

i Fke v/; k;

^| kekft d&l kl—frd pruk l s

vfHki k; @ vFkl**

i fke v/; k;

^l kekft d&l kl—frd pruk l s
vfHki k; @ vFkl*

सामान्यतः सामाजिक— सांस्कृतिक चेतना से हमारा तात्पर्य किसी भी देश की सामाजिक—सांस्कृतिक व्यवस्था, अव्यवस्था, स्थिति, परिस्थिति, दिशा और दशा के प्रति हमेशा जाग्रत रहना है और मानव जाति किस तरह से सुखी सम्पन्न रह सकती है, इस विचार को लेकर हमेशा चिंतनशील रहना सामाजिक—सांस्कृतिक चेतना हो सकती है।

सामाजिक—सांस्कृतिक चेतना का उद्भव मानव जाति में असंतोष, अव्यवस्था, हताशा, निरासा, अन्याय, अनीत, दुराचार, शोषण की प्रक्रिया से होता है। इस चेतना के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक—सांस्कृतिक प्रतिष्ठामूलक कार्य सम्पादित करता है। इसके पीछे सामाजिक—सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक, राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ प्रेरणात्मक हो सकती हैं। अतः इसी सन्दर्भ में सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना का अध्ययन यहाँ अभिप्रेत माना जायेगा।

¼½ l l—fr dk vFkl

संस्कृति का अर्थ है, जीवन जीने की कला, किसी भी देश या समाज के आचार—विचार, तीज—त्यौहार, रीति—रिवाज एवं जीवन जीने का सही तरीका तथा किसी भी देश के रंग—ढंग वहाँ की परम्पराएँ किसी भी समाज का रहन—सहन, खान—पान, वेश—भूषा एवं धर्म, दर्शन, कला अथवा मानवीय मूल्य ये सभी संस्कृति का ही अर्थ हो सकते हैं।

संस्कृति, शब्द संस्कृत का ही हिन्दी रूपान्तरण है। संस्कृति शब्द का प्रयोग मानव शास्त्री भिन्न अर्थ में करते हैं। मानवशास्त्री

सर्वश्री टायलर के अनुसार “संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिससे ज्ञान विज्ञान, कला, आचार, कानून तथा ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है, जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते ग्रहण करता है।”¹

अपने आप में सबको समाहित करने की शक्ति ही संस्कृति का अर्थ हो सकता है, हमारी भारतीय संस्कृति में ये विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। इसलिये उसकी महानता का यशोगान करते हुये दिनकर जी ने लिखा है— “सांस्कृतिक दृष्टि से वह देश और वह जाति अधिक शक्तिशाली और महान समझी जानी चाहिये जिसे विश्व के अपने भीतर करके, उन्हें पचा करके बड़े से बड़े समन्वय को उत्पन्न किया है। भारत देश और भारतीय जाति इस दृष्टि में संसार में सबसे महान हैं, क्योंकि यहाँ की सामाजिक संस्कृति में अधिक से अधिक जातियों की संस्कृतियाँ पची हुयी हैं।”²

संस्कृति शब्द ‘सम्’ उपसर्ग ‘कृ’ धातु से भूषण अर्थ में सुट का आगम करके ‘कितन्’ प्रत्यय करने से ‘संस्कृति’ शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है— भूषण भूत सम्यक्, कृति।³ यहाँ ‘सम्यक्’ शब्द विशेष अर्थ में प्रयोग हुआ है। सामान्य मानव की चेष्टायें अपनी प्रकृति के अनुसार होती है। कि वह सम्यक् या असम्यक दोनों के कार्यों में से किसी एक का चुनाव कर सकता है। मानव की केवल सम्यक् चेष्टायें ही संस्कृति के अन्तर्गत रखी जा सकती है। मनुष्य के आचार—विचार ही संस्कृति है।”

¹ डॉ. विजय अग्रवाल, हिन्दी भाषा अतीत से आज तक, पृ. 114 , संस्करण 2002, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

² संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ 654

³ कल्याण : हिन्दू संस्कृति विशेषांक, 1950 गीता प्रेस गोरखपुर, पृष्ठ 24

संस्कृति अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' का भी पर्याय माना जाता है। इस 'कल्चर' शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा की धातु 'कोलर' (Caolere) से निष्पन्न 'कुल्टुरा' शब्द से हुयी जिसका अर्थ पूजा करना तथा कृषि संबंधी कार्य सम्पादित करना। 'कल्चर' शब्द इन मूल अर्थों के साथ आधुनिक युग में प्रयोग हो रहे अर्थ को समन्वित करने का प्रयास विद्वानों ने किया है। कल्चर के अभिधानिक अर्थ 'कल्टीवेशन' के माध्यम से संस्कृति की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुये डॉ. प्रसन्न कुमार आचार्य लिखते हैं— 'कल्टीवेशन' का अर्थ कृषि है। भूमि की प्राकृतिक अवस्था को परिष्कृत करना ही कृषि का उद्देश्य है। कवि की विभिन्न पद्धतियों द्वारा भूमि का परिष्कार किया जाता है। रोड़े, कूड़ा, कर्कट और घास—तिनके हटाकर भूमि शुद्ध की जाती है, जिसमें भूमि उर्वरा बनती है। भूमि की भाँति मनुष्य की मानसिक और सामाजिक अवस्थाएँ भी विकसित हुआ करती हैं। संस्कृति अथवा कल्चर मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियों तथा उनके परिष्कार का द्योतक हैं, जीवन का चरमोत्कर्ष प्राप्त करना इस विकास का परिणाम है।'¹

संसार में मानव एक चिंतनशील प्राणी है। और उसने अपनी चेतना द्वारा संस्कृति का निर्माण किया, इसलिये संस्कृति का जन्म मनुष्य के मध्य ही होता है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो संस्कृति को बनाने एवं बनाये रखने की क्षमता रखता है। यह संस्कृति ही है, जो मानव को प्रकृति के अन्य जीवों से अलग करती है।

यह सत्य है कि मानव संस्कृति का निर्माण करता है और मनुष्य को संस्कृति निर्माण करने की शक्ति प्रकृति से ही मिलती है। मानव को ईश्वर से कुछ इस प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक क्षमताएँ

¹ प्रसन्न कुमार आचार्य : भारतीय संस्कृति एवम् सभ्यता, पृ. 1

मिली, जिसके उपयोग से संस्कृति का निर्माण करना मानव मन के लिये संभव हो सका।

fofHkUu fo}kuka ds er &

संस्कृति को लेकर विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किये हैं। भारतीय विद्वानों द्वारा संस्कृति की विभिन्न परिभाषाएँ यहाँ पर अवलोकनीय हैं। भारतीय विद्वान के.एम. मुन्शी का मत है— “संस्कृति किसी जाति की ऐसी जीवन-पद्धति है, जो अपनी प्राण शक्ति को निरन्तर सजीव रखते हुये अखण्ड व सांगोपांग जीवन धारा के रूप में, सभ्यता के बाह्य परिवर्तनशील रूपों के बीच प्रज्वलित रहती, सामाजिक संस्थाओं का रूप निर्माण करती हुयी, जनता के बौद्धिक और सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण को आशय व दिशा प्रदान करती हुयी जीवन मूल्यों को अविचलित रखती हुयी, हमारे विचार, प्राणी और आचार को आस्फूर्त आलोकित करती हुयी प्रवाहमान रहती है। वह हमारे जातीय जीवन के ऐसे केन्द्रीय भाव से शासित रहकर ज्वलंत रहती है, जो स्वयं अपना साध्य हो, किसी भी अन्य साधन के शासनत्व में न हो।”¹

श्री बसानन्द सरस्वती ने संस्कृति शब्द की व्याख्या करते हुये कहा है— “संस्कृति शब्द ‘क्र’ धातु से भूषण अर्थ में सुट का आगमन करने पर बना है, जिसका अर्थ है, भूषणभूत सम्यक कृति या चेष्टा।”² इस प्रकार के कथन से स्पष्ट है कि लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति है।

¹ रामेश्वर लाल खण्डेलवाल, जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला, पृष्ठ 193

² कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, हिन्दू संस्कृति अंक, पृ. 24

इन्द्रवाचस्पति का मत है— “किसी देश की आध्यात्मिक, सांमाजिक और मानसिक विभूति को उस देश की संस्कृति कहते हैं। ‘संस्कृति’ शब्द में देश के धर्म, साहित्य और रीति—रिवाज, परम्पराओं, सामाजिक संगठन आदि सब आध्यात्मिक और मानसिक तत्वों का समावेश होता है।”¹

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी संस्कृति को “मानव की विभिन्न साधनाओं की प्रणति में निहित मानते हैं।”²

सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा है— “संस्कृति को मैं मानवीय पदार्थ मानता हूँ, जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म—स्थूल दोनों धरातलों के सत्यों का समावेश तथा हमारे मध्य चेतना शिखर का प्रकाश सामाजिक जीवन की मानसिक अपव्यय की छायाएँ गुम्फित हैं। उसके भीतर आध्यात्मिक धर्म, नीति से लेकर सामाजिक रूढ़ि, रीति तथा व्यवहारों का सौन्दर्य भी एक अन्तर सामंजस्य ग्रहण कर लेता है।”³

डॉ. नगेन्द्र ने संस्कृति को ‘सत्यम् शिवम् सुन्दरम्’ को समन्वित रूप में प्रस्तुत किया है। उनका मत है— “सांस्कृतिक जीवन के उन सूक्ष्मतर तत्वों की संहिता का नाम है, जिनमें मानव चेतना का संस्कार होता है। सारतः इन तत्वों का समाहार सत्य, शिव और सुन्दर के त्रिक में हो जाता है। केवल सत्य दर्शन का विषय है, केवल शिव, नीति का और कला में मूलतः सुन्दर का ही महात्मय है, परन्तु संस्कृति में इन तीनों का सामंजस्य रहता है।”⁴

¹ इन्द्र वाचस्पति, भारतीय संस्कृति का प्रवाह, पृष्ठ 21

² डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, निबन्ध संग्रह, पृष्ठ 64

³ सुमित्रानन्दन पंत, उत्तरा, पृष्ठ 15

⁴ राधा कृष्णन : स्वतंत्रता और संस्कृति (अनु. विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी) पृष्ठ 53

डॉ. सरनाम सिंह शर्मा के मतानुसार— “सामाजिक चेतना की समग्रता का सर्वोत्तम निर्वाह ही, जिसमें व्यक्तित्व विकार मुक्त होकर साधनाओं का श्रेष्ठतम आंकलन करती है, संस्कृति है।”¹

डॉ. सम्पूर्णानन्द के शब्दों में— “संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिसमें कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि निक्षेप करता है। यह दृष्टिकोण कई बातों पर निर्भर है। थोड़े में हम कह सकते हैं। कि समुदाय की वर्तमान अनुभूतियों ओर पुरातन अनुभूतियों के अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता है।”²

डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र के मतानुसार— “संस्कृति है, मानव जीवन के विचार उच्चार, आचार का संशुद्धीकरण अथवा परिमार्जन। वह है मानव-जीवन की सजी-सँवरी हुयी अन्तःस्थिति। वह है मानव समाज की परिमार्जिमति, रुचि और प्रवृत्ति पुंज का नाम।”³

डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार “चिंतन द्वारा जीवन की कल्याणमय बनाने के प्रयत्नों के परिणाम को संस्कृति मानते हैं।”⁴

डॉ. गायत्री वर्मा के मतानुसार— “निरन्तर प्रगतिशील मानव जीवन प्रकृति और मानव समाज के जिन-जिन असंख्या प्रभावों व संस्कारों से संस्कृति प्रभावित होती रहती है, उन सबके सामूहिक पदार्थ को ही संस्कृति कहा जाता है। मानव का प्रत्येक विचार, प्रत्येक कृति, संस्कृति नहीं है, पर जिन कार्यों से किसी देश-विदेश के समस्त समाज पर कोई आमिट छाप पड़े वही स्थाई प्रभाव संस्कृति है।”⁵

¹ डॉ. सरनाम सिंह शर्मा, साहित्य, सिद्धान्त और समीक्षा, पृष्ठ 19

² कल्याण : हिन्दू संस्कृति विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 70

³ बलदेव प्रसाद मिश्र : भारतीय संस्कृति को गोस्वामी तुलसीदास का योगदान पृष्ठ 9

⁴ काली शंकर भटनागर, भारतीय संस्कृति का विकास, पृष्ठ 19

⁵ डॉ. गायत्री वर्मा, कालीदास के ग्रन्थों पर आधारित भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 2

डॉ. गोविन्द चातक का कथन है— “संस्कृति जीवन का संस्कार हैं वह केवल अतीत की विरासत नहीं, वह भविष्य की संभावना भी है। वह कई स्तरों पर जीने का अर्थ, मानवता कहीं ऊर्ध्वगति और मनुष्य की सृजन क्षमता को ही व्यक्त नहीं करती वरन् चेतन—अचेतन रूप क्रिया में निरन्तर लगी रहती है। इसलिये एक ओर वह परम्परा में ढलती जाती है, दूसरी ओर भविष्य को भी ढालती जाती है।”¹

डॉ. राधाकृष्णन के मतानुसार— “संस्कृति वह वस्तु है, जो स्वभाव, मानसिक निरोगता एवं आत्मिक शक्ति को जन्म देती है।”²

संस्कृति के विषय में मनीषी संत अरविन्द का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और वैज्ञानिक है— “किसी जाति की संस्कृति उसकी जीवन विषयक चेतना की अभिव्यक्ति होती है और वह चेतना अपने आपको तीन रूपों में प्रगट करती है। उसका एक रूप होता है— विचार, आदर्श, ऊर्ध्वमुख संकल्प और आत्मिक अभीत्सा का दूसरा रूप हैं— सर्जनशील आत्म अभिव्यंजना की शक्ति और गुणग्राही, सौन्दर्यबोध की मेधा और कल्पना का और तीसरा होता है— व्यवहारिक और बाह्य रूप — संघटन का।”³

निष्कर्षतः संस्कृति वह प्रक्रिया है, जो मानव जीवन में आदर्शों, मूल्यों का निर्माण करती है, जिससे व्यक्ति को विवेक और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है और मनुष्य की वह परिष्कृत एवं विकसित अवस्था है, जहाँ पर मनुष्य जीवन जीते हुये आनंद की प्राप्ति करता है।

भारतीय विद्वानों के विचारों को जानने के बाद, संस्कृति के स्वरूप के संबंध में जो तथ्य उभर कर सामने आये हैं।

¹ गोविन्द चातक, संस्कृति, समस्या और सम्भावना, आमुख से

² डॉ. राधाकृष्णन : स्वतंत्रता और संस्कृति (अनु. विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी) पृष्ठ 53

³ अरविन्द : भारतीय संस्कृति के आधार (अनु. जगन्नाथ वेदालंकार/ चन्द्रदीप त्रिपाठी), पृष्ठ 66

संस्कृति के अन्तर्गत किसी समाज की आर्थिक, राजनीतिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं कलात्मक उपलब्धियों का समावेश है।

संस्कृति कई युगों से संचित मान्यताओं, आस्थाओं आदि को परिष्कृत एवं परिमार्जित करने के साथ-साथ संशोधित कर निरन्तर जीवन तत्वों का शोध कर उन्हें प्रतिष्ठित करती है।

संस्कृति मानव जीवन का ऊर्ध्वमुखी चिंतन है, जिससे मानव प्रेरणा पाकर अपनी राक्षसी वृत्तियों का उदात्तीकरण करके, अपने आपको शुद्ध और पवित्र बनाता है।

संस्कृति मनुष्य के केवल लौकिक जीवन का ही नहीं अपितु अलौकिक जीवन का भी मार्ग प्रशस्त करती है।

संस्कृति प्रसरणशील है। अतः मानव समाज में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरण होती रहती है।

संस्कृति एक ऐसी जीवन पद्धति है, जो प्राकृतिक और अर्जित संस्कारों के माध्यम से मानव की समस्त आन्तरिक क्षमता जाग्रत होती है। यह परम्परा आवश्यकतानुसार संशोधित और परिष्कृत करती हुयी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्थानान्तरित होती रहती है। जिसकी पहचान उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक के साथ-साथ बौद्धिक, मानसिक, आध्यात्मिक तथा कलात्मक उपलब्धियों के रूप में की जा सकती है।

1.1—fr & 1.ekt

समाज एवं संस्कृति एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। समाज के स्वरूप की परिकल्पना के बिना सांस्कृतिक चेतना संभव नहीं है, और संस्कृति के बिना सामाजिक परिकल्पना अधूरी है। संस्कृति में नैतिकता,

ज्ञान, विश्वास, रीति-रिवाज, तीज-त्यौहार, खान-पान, रहन-सहन वे सभी योग्यताएँ समाहित हो जाती हैं। संस्कृति व्यक्ति को करुणा, दया, सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ाती है।

भारतीय संस्कृति में मनीषियों द्वारा वर्ण तथा आश्रम की व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। जो हमारी संस्कृति और समाज में सामंजस्य उत्पन्न करती है। संस्कृति द्वारा समाज व्यवस्था बनी रहती है। समाज की परम्पराएँ प्रथाएँ, आर्थिक तथा सामाजिक गतिविधियाँ संस्कृति की देन होती हैं। संस्कृति समाज व्यवस्था को बनाये रखने के मूल्यों का निर्धारण करती है। संस्कृति सामाजिक व्यवस्था का एक प्रमुख अंग है।

समाज व्यक्ति का समूह है, जिसमें लोग एक-साथ रहते हैं और यह, तभी संभव है, जब उस समाज के व्यक्ति संस्कारित हों एक-दूसरे की भावना तथा अस्तित्व को ध्यान में रखकर आचरण किया जाता हो तब समाज का आविर्भाव होता है और ऐसे ही संबंध सामाजिक कहलाते हैं। जिसमें व्यक्ति को दूसरे के अस्तित्व का भी ध्यान रहता है। संस्कृति ही उसे यह सीख देती है कि सामाजिक व्यवहार किस प्रकार होना चाहिये।

समाज रीतियों, कार्यविधियों, अधिकार व पारस्परिक सहायता, अनेक समूह तथा उनके विभाजनों, मानव व्यवहार के नियंत्रणों तथा स्वतंत्रताओं की व्यवस्था है। यह सदैव परिवर्तित होने वाली तथा जटिल व्यवस्था है अतः जिन तत्वों से मिलकर समाज में निर्माण होता है, उनको यथास्थिति में संस्कृति ही बनाये रखती है। वह सामाजिक रीतियाँ हों या चाहे वह मानव व्यवहार हों, क्योंकि संस्कृति को संस्कार

का रूपान्तर माना गया है। इसके अलावा संस्कृति सीखे हुये व्यवहार की समानता है, जिनमें एक बच्चे का व्यक्तित्व पनपता और पलता है। संस्कृति ही मानव समाज को बनाये रखने वाले तत्वों को सुचारु और जीवित बनाये रखना सिखाती है। अतः हम कह सकते हैं कि संस्कृति समाज को एक स्थाई रूप प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। अतः संस्कृति एवं समाज एक-दूसरे से अन्तर संबंधित है।¹

महात्मा गाँधी ने वर्णाश्रम धर्म की रक्षा का मार्ग सुझाया है। उन्होंने भिन्न-भिन्न वृत्तियों के लोगों को भिन्न-भिन्न धन्धे, जैसे खादी बनाओ, ग्राम स्कूल चलाओ, कागज बनाओ, गरु सेवा, सफाई का कार्य देकर बेकारी की समस्या का उपाय सुझाया। इसी प्रकार वानप्रस्थ व सन्यास का पाठ उन्होंने अपने जीवन में सिखाया।²

मनुष्य अपनी सुरक्षा तथा सुख के लिये समाज पर आश्रित रहता है। समाज व्यक्ति में केवल वंशानुक्रम के गुण ही नहीं बल्कि उसको समस्त सामाजिक वातावरण भी देता है। इस तरह समाज में ही संस्कृति का विकास होता है ये एक-दूसरे के पूरक हैं। संस्कृति का विकास समाज के आधार पर ही होता है।

डॉ. उमाकान्त के विचारानुसार— “संस्कृति की पहचान अनिर्वायतः समाज है। संस्कृति का अस्तित्व समाज के अस्तित्व पर निर्भर करता है। सामाजिक व्यवस्था के अनुसार ही संस्कृति का स्वरूप होता है अतः समाज की संघटना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य संस्कृति ही है।³

¹ अरुण जैन : सामाजिक मानव विज्ञान, महावीर कम्पैशन टाइम्स, पृष्ठ 291-292

² कल्याण, हिन्दू संस्कृति विशेषांक, हिन्दू-संस्कृति, स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज, पृष्ठ 21

³ डॉ. उमाकान्त, मैथलीशरण गुप्त, कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, पृष्ठ 387

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर एक बात तो स्पष्ट है, मनुष्य को मनुष्य का दर्जा देने में, संस्कृति एवं समाज दोनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है और इनमें से किसी एक की अनुपस्थिति में मनुष्य का वर्तमान स्वरूप में रह पाना कठिन है। यदि संस्कृति को समाज से हटा दिया जाये, तो समाज बिखर जायेगा।

प्राचीन काल से ही मनुष्य समाज में रहता आया है। मानव ने कभी भी समूह से अलग होकर अकेला रहना स्वीकार नहीं किया, सामूहिक रूप से साथ रहने के कारण मानव समूह में रहकर एक विशिष्ट जीवन शैली का व्यवहार करने के कारण मनुष्य संस्कृति और समाज का निर्माण कर सका।

Hkkj rh; l ekt dh : i js[kk

भारतीय समाज की अपनी विशिष्ट पहचान रही है। यह समाज प्राचीन होने के साथ-साथ कई मायनों में अलग भी है। इसका एक गौरवमय अतीत है, जो इसे दुनियाभर में एक विशिष्ट पहचान दिलाता है। कोई समाज अपनी विशिष्ट पहचान रखने के कारण एक सामाजिक संगठन कहलाता है।

सामाजिक संगठन वह सामाजिक स्थिति होती है, जिसमें समाज के अनेक अंग एक-दूसरे के सहयोग से तथा पूर्व निर्धारित मान्यताओं के अनुसार कार्य करते हैं भारतीय समाज जैसे वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, धर्म, कर्म, संयुक्त परिवार व्यवस्था, जाति व्यवस्था इत्यादि। भारतीय सामाजिक संगठन की धुरी है, क्योंकि इस व्यवस्था के द्वारा समाज को कुछ निश्चित वर्णों में बाँटा गया है तथा कल्याण की दृष्टि को ध्यान में रखते हुये प्रत्येक वर्ण के कर्तव्य एवं कर्मों को भी

निश्चित किया गया है। जहाँ वर्ण व्यवस्था समाज में सरल श्रम विभाजन की व्यवस्था करती है, वही एक और आश्रम व्यवस्था द्वारा जीवन को चार भागों में बाँटकर मानव जीवन को व्यवस्थित किया गया है। इसी प्रकार कर्म एवं धर्म का भी भारतीय समाज में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ये सभी भारतीय समाज के प्रमुख आधार हैं।

भारतीय संस्कृति हजारों वर्ष पुरानी है। अनेक भारतीय सामाजिक संगठनों का विकास प्राचीन युग में ही हो गया था। प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, विवाह, धर्म एवं कर्म आदि के द्वारा भारतीय समाज की रूपरेखा तैयार की गयी। समाज में श्रम विभाजन कर मनुष्य को चार वर्णों में बाँटा गया जोकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि नामों से जाने गये तथा इसी प्रकार मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानकर चार आश्रमों – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास में विभाजित किया, जिनको पुरुषार्थ प्राप्ति का साधन माना गया है एवं धर्म और कर्म को भारतीय संस्कृति में प्रमुख स्थान दिया गया है, जिसके अनुसार कार्य करने पर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, जो मानव जीवन का उद्देश्य है।

भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था का निर्माण समाज को सुव्यवस्थित, संगठित, सुखी एवं सम्पन्न बनाने के लिये किया गया था, जिसमें समाज को सुदृढ़, स्थिर और उन्नत किया, लेकिन वह ठीक से नहीं चल पाया। वर्ण व्यवस्था का सब से बड़ा दोष यह था कि समय पाकर यह गुण, कर्म और वृत्ति के आधार पर न रहकर केवल जन्म के आधार पर मानी जाने लगी। “विवेकानन्द ने वेदान्त की भूमिका पर किसी भी वर्ण या वर्ग की श्रेष्ठता अथवा सर्वोपरिता को अस्वीकार किया।”¹

¹ द कम्प्लीट वर्क्स ऑफ, स्वामी विवेकानन्द, भाग-1, पृष्ठ 423

समाज संरचना में जो भी विषमता, विसंगति अथवा वर्ण व्यवस्था और वर्ग-भेद द्वारा जो भी मानवीय पार्थक्य की सृष्टि हुयी, उसके निराकरण का सतत प्रयास किया गया।

भारतीय समाज अध्यात्म के आधार पर उन मूल्यों और मान्यताओं को गढ़ता रहा, जिन्हें सदैव मानव-समाज ने गहराई से चिंतन-मनन कर स्वीकार किया है।

समाज संरचना में मानवीय संबंधों के संतुलित रूपान्तरण पर बल दिया गया है, जिसमें सामाजिक न्याय और नैतिकता को ध्यान में रखा गया है। साम्प्रदायिकता, सद्भावना और सहिष्णुता के सन्दर्भ में विनोवा भावे ने कहा है— “अब हमें पुराण, कुरान, बाईबिल और गीता का समन्वय करना है, जैसे समुद्र सभी नदियों को स्वीकार करता है, वैसे ही हमारी वृत्ति होनी चाहिये।”¹

समाज सदैव परिवर्तनशील रहा है। सामाजिक विकास की एक प्रक्रिया होती है। जो निरन्तर चल रही है और चलती रहेगी, जिस पर आगे भी विचार किया जाता रहेगा। इस समाज के सनातन तथा शाश्वत मूल्य समाज को बखूबी प्रभावित करते हैं। यही कारण है कि आज भी आधुनिकता और पुरातनता का जो संगम हमारे समाज में मिलता है, दुनिया के किसी अन्य समाज में नहीं।

Hkkj rh; | 1-fr

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीन संस्कृति है। विश्व की अनेक संस्कृतियाँ समाज के प्रवाह में जर्जर होकर विलुप्त हो गयीं,

¹ भूदान गंगा, भाग-1, पृष्ठ 36

परन्तु भारतीय संस्कृति कई कालखण्डों की चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों का समाना करते हुये हजारों वर्षों से अपने अस्तित्व को बचाए हुये है। एक विशेष अर्थ में भारतवर्ष संसार का छोटा संस्करण है। यह एक प्रयोगशाला है, जहाँ संसार की समस्याओं से संबंधित जातीय अथवा धार्मिक संश्लेषण के प्रयोग किये जाते हैं।¹

इस प्रकार भारतीय संस्कृति की उदार समन्वयात्मक प्रवृत्ति के विभिन्न धर्मों, विभिन्न संस्कृतियों और विभिन्न जातियों की विचारधाराओं को सहज रूप से सहृदयता के साथ भारतीय समाज में अर्न्तभूत कर अभेद रूप से समाविष्ट कर लिया, लेकिन भारतीय संस्कृति ने अपने मूल सांस्कृतिक तत्व को विच्छिन्न नहीं होने दिया। इस सन्दर्भ में डॉ. राधाकमल मुखर्जी का मत अवलोकनीय है— “भारतीय सभ्यता की अविच्छिन्नता के दो कारण हैं— कल्पना और यथार्थ का लगभग स्वरूप आदर्श और दूसरा कारण है— पाँच हजार वर्षों से संघर्ष, कृमिक, परिपाक और समन्वय के बल पर विकसित एक सामाजिक व्यवस्था। इस विशाल भू-भाग पर आक्रमणों, युद्धों अथवा विजयों ने राज्यों और साम्राज्यों को संघटित अथवा विघटित तो किया है, किन्तु निवासियों का व्यापक सम्पत्तिहरण अथवा एक संस्कृति के स्थान पर दूसरी संस्कृति को प्रतिष्ठापित नहीं किया।”² इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सार्वकालिक गुणों से सम्पन्न भारतीय संस्कृति के मूल तत्व इतने अधिक प्रबल थे, कि न तो समय उन्हें उखाड़ कर फेंक सका और न ही बाह्य प्रभाव उसे नष्ट कर सके,

¹ राधाकृष्णन, भारती की अन्तरात्मा, पृष्ठ 73

² राधाकमल मुखर्जी : भारत की संस्कृति और कला, पृष्ठ 17

बल्कि नये-नये तत्वों को अपने में सम्मिलित करती हुयी भारतीय संस्कृति निरन्तर नवजीवन प्राप्त करती जा रही है।

भारतीय संस्कृति की अपनी मौलिक विशेषता है। 'आध्यात्मिकता' जो उसे पूरे विश्व की अन्य संस्कृतियों में विशिष्ट बनाती है। आध्यात्म का तात्पर्य— देह, मन और प्राण से भी महान आत्म-तत्व का चिंतन-मनन। इस प्रकार भारतीय संस्कृति, आत्म साक्षात्कार पर जोर देती है।

वेद हमारी संस्कृति के चिरन्तन स्रोत हैं, जिसमें मनुष्य के आध्यात्मिक एवं जीवन दर्शन संबंधी उपदेश दिये गये हैं। वेद का ही कथन है— "एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति।"¹ जिसका अर्थ है कि सत् एक ही है, जिसे चाहे परमेश्वर कहा जाये, ईश्वर या सत् कहा जाये, जिसे विद्वान नाना प्रकार से संबोधित करते हैं।

भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता को सदैव महत्व दिया गया है, क्योंकि 'अध्यात्म हमारी संस्कृति की आत्मा है'। डॉ. राधाकृष्णन ने भी आत्म साक्षात्कार पर बल देते हुये लिखा है— "भारतीय इतिहास के प्रारंभ से ही मानव चेतना की एक निश्चित दिशा निर्धारित कर दी है। अपना अस्तित्व बनाये रखना, आत्मा की निर्मलता को बनाये रखना ही जीवन का लक्ष्य है। मानव केवल भौतिक सम्पत्ति और ज्ञानार्जन से ही सन्तुष्ट नहीं रह सकता। उसका ध्येय है— आत्म साक्षात्कार करना।"²

¹ ऋग्वेद : (मण्डल- 1, सूक्त 164, श्लोक 46)

² राधाकृष्णन, पूर्व-पश्चिम (भारतीय जीवन), पृष्ठ 9

साने गुरु जी अद्वैत को भारतीय संस्कृति की आत्मा मानते हुये कहते हैं— “यह भारतीय संस्कृति की महान विशेषता है, अभेद में भेद, भेद में अभेद, यही भारतीय संस्कृति का स्वरूप है।”¹

स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति ने पार्थिव जीवन की पूर्णता को पूरी तरह अस्वीकार नहीं किया है, उसे समुचित स्थान दिया है, लेकिन जो उच्चतम स्थान उसे मिलना चाहिये था, वह नहीं मिला।

भारतीय संस्कृति मानव जीवन के सर्वांगीण विकास की एक क्रमबद्ध योजना बनाकर, मनुष्य के लोक और परलोक के कल्याण की बात करती है। इसलिये पुरुषार्थचतुष्टय की व्यवस्था की गयी है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में से प्रत्येक महत्वपूर्ण है।

श्री गौरी शंकर भट्ट के मतानुसार— “पुरुषार्थ वस्तुतः एक साधना है, जिसमें धर्म के आधार पर अर्थ तथा काम (अर्थात् इहलौकिक जीवन) की साधना करते हुये, पारलौकिक जीवन को साधने का प्रयास निहित है। पुरुषार्थ अभ्युदय तथा निःश्रेयस की साधना का माध्यम है।”²

भारतीय संस्कृति में कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी है तथा इस सिद्धान्त में सभी लोगों का अटल विश्वास भी है। वर्तमान जीवन में सुख—दुःख सभी पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है। जीव द्वारा किये गये प्रत्येक कर्म का फल उसे अवश्य ही भुगतना पड़ता है। इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द का मत है— “हमारा हँसना—रोना, सुख—दुःख, हर्ष—विषाद, हमारी शुभ—कामनाएँ एवं शाप, स्तुति और निन्दा, ये सब हमारे मन के ऊपर अनेक घात—प्रतिघात मिलकर ‘कर्म’ कहलाते हैं।”³

¹ साने गुरु जी, भारतीय संस्कृति : (अनु : बाबूराव जोशी), पृष्ठ 23

² हुक्मचन्द्र राम पाल : आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य, पृष्ठ 50

³ नरेन्द्र मोहन : भारतीय संस्कृति पृष्ठ 229

स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति के इस सिद्धान्त में भाग्यवाद, निराशा तथा उत्साह-हीनता का कोई स्थान नहीं है, वह तो मनुष्य को हमेशा प्रयासरत रहने के लिये प्रेरित करती है।

मानवीय गुणों पर आधृत, यह संस्कृति हमेशा महान आदर्शों का स्रोत रही है। “वसधैव कुटुम्बकम्” की भव्य भावना के कारण यह संस्कृति सभी के प्रति पूर्ण सम्मान और सभी को आत्मवत् मानकर सबके प्रति कल्याण की भावना रखती है। अपने सुख की कामना तो प्रत्येक मानव करता है, परन्तु भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव जीवन का सार उसी में है, अपने सुख की संकीर्ण भावना से ऊपर उठकर सम्पूर्ण प्राणी मात्र के कल्याण और सुख की ओर उन्मुख हों।

भारतीय संस्कृति— “सर्वे भवन्तु सुखिनः, मंत्र में समस्त सृष्टि की सुख-समृद्धि की कल्याणकारी भावना संयोजित है, इसमें मानों भारतीय संस्कृति की आत्मा मुखरित हो उठी है, इस मंत्र को आत्मसात करने वाले मानव ही देवत्व को प्राप्त हो सकते हैं। डॉ. राधाकृष्णन के मतानुसार “प्रसद्धि है कि जब गौतम बुद्ध निर्वाण को प्राप्त होने को थे, तब वे एक ओर हट गये और बोले कि जब तक संसार में एक भी प्राणी दुःखी है, तब तक वे निर्वाण नहीं चाहते।”¹

इस प्रकार भारतीय संस्कृति लोक कल्याण की भावना से ओतप्रोत है। ‘श्रीमद्भागवतगीता’ का निम्न श्लोक देखें—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतिहिते रताः ॥²

¹ राधाकृष्णन : हिन्दुओं का जीवन-दर्शन, पृष्ठ 87

² श्रीमद्भागवतगीता: अध्याय 5, श्लोक 25

स्पष्ट है कि, मनुष्य संशय से उत्पन्न होने वाले द्वैत से परे है, जिनका मन आत्म-साक्षात्कार में लीन है, जो समस्त जीवों के कल्याण के लिये कार्य करने में सदैव व्यस्त रहते हैं और जो समस्त पापों से रहित है। वे ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मुक्ति को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि जो मानव संसार के कल्याण की कामना करते हैं, उनका अपना कल्याण निश्चित रूप से स्पष्ट हो जाता है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं— “हम तुम और सब लोग संसार के ऋणी हैं, और संसार हमारा ऋणी नहीं है। संसार की सहायता करने में हम अपनी सहायता आप करते है।”¹

jhfr

संस्कृति एवं लोक जीवन में रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। धर्म, आचार-विचार, विश्वास, रीति-रिवाज तथा परम्पराएँ समाज का अभिन्न अंग हैं। ये सब समाज की संस्कृति को रूपान्तरित करते हैं। भिन्न-भिन्न जातियों के पृथक्-पृथक् रीति-रिवाज होते हैं और लोग अपने विश्वास के अनुसार इनका पालन करते हैं, जन्म से लेकर मृत्यु तक भिन्न-भिन्न जातियों एवं धर्मावलम्बियों के अनेक संस्कार माने जाते हैं, जैसे— नामकरण, विवाह, आदि से लेकर दाह संस्कार तक सभी जातियों में प्रचलित संस्कार हैं। सिर्फ इनके निर्वाह करने के तरीके अलग-अलग होते हैं। जैसे हिन्दुओं के विवाह के समय लगुन, फलदान, बारात, कन्यादान आदि रीति-रिवाज मनाए जाते हैं।

ये रीति-रिवाज एक तरफ समाज की उत्कर्षता के परिचायक हैं, और दूसरी तरफ ये कुप्रथा के रूप में समाज में प्रचलित होते हैं। किसी भी समाज में स्थापित किये गये कुछ वे नियम जिनसे

¹ विवेकानन्द : कर्म योग (अनु : बदरीदत्त शर्मा), पृष्ठ 59

एक व्यक्ति अपने घरेलू, सामाजिक, धार्मिक आदि कार्यों और रहन-सहन को पूरा कर सके उन्हें रीति-रिवाज ही माना जा सकता है।

रीति का अपना ही अलग महत्व होता है, क्योंकि ये सबको जोड़ने का काम करते हैं, जब आप किसी दूसरे देश में जाते हैं, तो आपको वहाँ रहने वाले लोगों का रहन-सहन, खान-पान, भाषा, पहनावा, उनके त्यौहारों को मनाने का तरीका आदि सब कुछ अलग मिलता है। हर देश का अपना अलग रहन-सहन या रीति-रिवाज होते हैं और उन्हीं से उनके समाज की पहचान होती है। हर समाज और धर्म के अपने अलग-अलग रीति-रिवाज होते हैं, जैसे हिन्दू धर्म में पूजा करते समय कुछ वस्तुओं का होना आवश्यक माना जाता है जैसे मंत्र, शंखनाद, चरण स्पर्श, माँग में सिन्दूर, मस्तिष्क पर तिलक, प्रसाद, कलश, स्वास्तिक, आदि इनके बिना पूजा पद्धति अधूरी मानी जाती है।

भारतीय समाज में त्यौहारों का भी बड़ा महत्व है, हमारे देश में वर्षभर त्यौहारों का क्रम चलता रहता है, जैसे- दीपावली, होली, रक्षाबन्धन, रामनवमी, मकर संक्रान्ति, आदि इनके अलावा भारतीय संस्कृति में प्रतिदिन का महत्व बतलाते हुये धर्म एवं आध्यात्मिकता से जोड़ा गया है, सभी धर्मों के अपने-अपने तौर-तरीके, विधि-विधान, नियम-संयम आदि होते हैं।

समाज में व्यवहृत रीति-रिवाजों को पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाने का काम परम्परा द्वारा ही किया जाता है। कवि रामस्वरूप बिजपुरिया के अनुसार परम्परा प्रत्येक समाज में पाई जाती है। यह वह प्रक्रिया है, जिसमें सांस्कृतिक विरासत के तत्व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किये जाते हैं-

“हमने अपनी संस्कृति के, इसलिये गीत थे गाये।
ताकि आने वाली पीढ़ी, वैसा बन दिखलाए।”¹

वर्तमान युवा पीढ़ी कुछ प्राचीन परम्पराओं और रीति-रिवाजों को स्वीकार नहीं कर, आज की परिस्थितियों के अनुरूप चलना चाहती है। यह कोई आलोचना का विषय नहीं है, बल्कि ऐसा परिवर्तन समय और परिस्थितियों के अनुसार होता आया है। कुछ लोग इन्हें अन्धविश्वास मानते हैं, जबकि आज भी बहुत से लोग इन रीति-रिवाजों, परम्पराओं को ऐसे ही निभा रहे हैं, इनकी समृद्धि, इनका सम्मान तथा इनका संरक्षण बहुत ही आवश्यक है। इस प्रकार भारतीय समाज एवं संस्कृति तथा धर्म में रीति, रिवाज एवं परम्पराओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

/kel

भारतीय समाज एवं संस्कृति का मूलाधार ‘धर्म’ ही है। यह सभी प्रकार से मानव जीवन के लिये महत्वपूर्ण है। यह ‘धृ’ धातु से बना है, जिसका तात्पर्य— बनाये रखना, धारण करना या पुष्ट करना है।² अर्थात् जिसका सीधा-सीधा तात्पर्य कर्तव्यपालन से है, जो व्यक्ति, परिवार, समाज व देश के प्रति अपने कर्तव्यों को सही ढंग से समझता है, तथा पालन करता है, जिसमें परोपकार की भावना छुपी हो वही धर्म है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी यह बात सिद्ध की है— “परहित सरिस धर्म नहीं भाई अर्थात् परोपकार से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।”

धर्म मानव जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले वेदों के सम्पूर्ण वर्ण्य विषयों को धर्म का मूल

¹ ‘आरत-भारत’, वन्दना ऑफसेट प्रिन्टर्स, ग्वालियर, बिजपुरिया, पृष्ठ 31

² धर्म और समाज, राधाकृष्णन, पृष्ठ 1

माना गया है। वामन शिवराम आपटे के अनुसार— “ध्रियते लोकोडनेन, इति धर्मः। धरति लोकम् इति वा धर्मः।।”¹ अर्थात् धर्म ही ऐसा तत्व है, जो व्यक्ति को देशकालानुसार आचरण की प्रेरणा देकर समाज में रहने के योग्य बनाता है। डॉ. राधाकृष्णन ने धर्म के संबंध में कहा है— “धर्म एक अनुसासन है, जो अन्तरात्मा को स्पर्श करता है और हमें बुराई और कुत्सिता से संघर्ष करने में सहायक होता है। काम, क्रोध और लोभ से हमारी रक्षा करता है, नैतिक बल को उन्मुक्त करता है। संसार को बचाने का महान कार्य करने के लिये साहस प्रदान करता है।”² वास्तविक धर्म की दृष्टि से सभी मनुष्य समान हैं, न कोई बड़ा है और न कोई छोटा हैं इसलिये जो धर्म किसी भी व्यक्ति को भेद-भाव की दृष्टि से देखता है वह आदर्श धर्म नहीं कहा जा सकता। सबका कल्याण ही धर्म का लक्ष्य होना चाहिये।

मनुष्य के भीतर समाया हुआ धर्म ही इस जगत के सुचारु संचालन में सहायक होता है। यदि मानव धार्मिक कर्तव्यों का पालन न करे तो समाज, संस्कृति, सभ्यता, साहित्य सब कुछ नष्ट, भृष्ट हो जायेगा। एक धर्म ही है, जिसके कारण समाज एवं संस्कृति जीवित है।

विश्व में कई धर्म विद्यमान हैं, हिन्दू धर्म विश्व के प्राचीनतम धर्मों में से एक कहा जा सकता है, हिन्दू धर्म अन्य धर्मों से कई मायनों में अलग है। हिन्दू सनातन धर्म में विभिन्न प्रकार के कर्मकाण्ड, बहुत ही पवित्रता के साथ सम्पन्न किये जाते हैं। इन्हीं कर्मकाण्डों पर विभिन्न पूजा-पद्धतियाँ अवलम्बित रहती हैं। पूजा पद्धति धर्म का ही एक अंग है, जिसके द्वारा हम ईश्वर से अपने दायित्वों का पालन करने की शक्ति

¹ वामन शिवराम आपटे – संस्कृत हिन्दी शब्दकोष, पृष्ठ 489

² धर्म और समाज, राधाकृष्णन, पृष्ठ 45

प्रदान करते हैं। इस शक्ति की सत्ता का अनुभव करके हम उसके साथ अपना-अपना संबंध स्थापित करते हैं। इस अज्ञात शक्ति को लोग अलग-अलग रूप में देखते हैं और इस दृष्टि से धर्म हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी आदि रूप में दिखायी देता है। धर्म का समूचा ढाँचा श्रद्धा, विश्वास पर टिका हुआ है। प्रत्येक धर्म के अपने-अपने आस्था केन्द्र हैं, धर्मस्थल हैं, देवपुरुष हैं, अवतार हैं, ईष्ट हैं, आराध्य हैं। सच्चा धर्म समाज की सेवा है, उसे सुधारना व उसके पतनोन्मुख विचार बदलना है।

स्पष्ट है कि पवित्रता, नैतिकता व आस्था, विश्वास को आचरण में उतारना धर्म के अभिन्न अंग हैं, धर्म वही है, जो मानव को कर्तव्य का बोध कराता है, दूसरे के प्रति जिम्मेदारी को समझता है तथा अनिश्चितता एवं चिंताओं से मुक्त कर उसके व्यवहार को नियंत्रित करता है। धर्म मानव में उत्तरदायित्व बोध का संचार कर, उसे अनैतिक होने से बचाता है। डॉ. कृष्णमुरारी शर्मा धर्म को परिभाषित करते हुये लिखते हैं—

धर्म और कुछ नहीं शुद्ध आचरण है,
जीवन का मर्म है, मन जागरण है।
किसी को सताये बिना रहे हिल-मिल,
धर्म जीवन का पावन व्याकरण है।¹

कवि ने सदाचरण तथा धर्म में आस्था एवं विश्वास को जीवन के लिये अनिवार्य माना है।

¹ शेष-अशेष – डॉ. कृष्ण मुरारी शर्मा – मुक्तक खण्ड से

n'ku

भारतीय संस्कृति में 'दर्शन' शब्द ल्युट प्रत्यपूर्वक दृश धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अभिप्राय है— देखना "जिसके द्वारा देखा जाये" डॉ उमेश मिश्र कृत "भारतीय दर्शन" में दर्शन का अर्थ : "दृश्यते अनेन इति दर्शनम्" बताया है, संस्कृति की दृष्टि से इस शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। अनुभूत ज्ञान, दृष्टिकोण, ईश्वर के संबंध में मानव की मान्यताएँ, मानव जीवन से संबंधित विभिन्न मान्यताएँ। डॉ. नरेन्द्र देव शास्त्री ने दर्शन की परिभाषा इस प्रकार दी है— "भारतीय मनीषियों के उर्वर मस्तिष्क से जिस कर्म, ज्ञान और भक्तितमय त्रिपथगा का प्रवाह उद्भूत हुआ, उसने दूर-दूर के मानवों के आध्यात्मिक कल्मष को धोकर उन्हें पवित्र, नित्य शुद्ध-बुद्ध और स्वच्छ बनाकर मानवता के विकास में योगदान किया है। इसी पतितपावनी धारा को लोग 'दर्शन' के नाम से जानते हैं।"¹ इस कथन से ज्ञात होता है कि हमारे ऋषि-मुनियों, मनीषियों ने जिस सत्य का प्रत्यक्ष किया है उसी को दर्शन कहा गया है। वास्तव में धर्म व्यक्ति का बाह्य सांस्कृतिक आचरण है और दर्शन संस्कृति की आत्मा है तथा दर्शन आध्यात्मिक चिंतन है।

नालन्दा विशाल शब्द सागर के अनुसार— 'दर्शन' शब्द का सीधा अर्थ— नेत्रों के द्वारा होने वाले बोध, ज्ञान या साक्षात्कार, भेंट, मुलाकात, वह शास्त्र या विद्या, जिसमें पदार्थों के धर्म, कार्य कारण, संबंध आदि का बोध हो, वह शास्त्र जिससे तत्व ज्ञान प्राप्त हो, दर्शन कहलाता है।"² इस प्रकार हमारे मनीषियों ने धार्मिक व आध्यात्मिक जीवन जीते हुये अपने अनुभव के आधार पर जो चिंतन व ज्ञान प्रस्तुत

¹ डॉ. नरेन्द्रदेव शास्त्री, भारतीय दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 1

² नालन्दा विशाल शब्द सागर – सम्पादक – श्री नवल जी, आदर्श बुक डिपो, नई दिल्ली, पृष्ठ 43

किया, वही दर्शन है। डॉ. देवराज के मतानुसार— “दर्शन का प्रमुख कार्य जीवन की उच्चतम संभावनाओं का प्रमाणिक तथा निरूपण करना है।”¹ वस्तुतः भारतीय विचारकों ने दर्शन पर काफी कुछ लिखा है, दर्शन का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक चेतना को परिपुष्ट करना है दर्शन के द्वारा ही व्यक्ति आत्मविद्या को प्रस्तुत करता है, जिसके कारण मानव आत्मदर्शी बनता है। आत्मदर्शी मानव ही संसार त्याग की बात कर सकता है तथा अविद्या माया का बोध भी दर्शन के द्वारा होता है। वस्तुतः दर्शन सभी धर्मों का सार होता है, क्योंकि इसी में धर्म—विशेष का आधार छिपा रहता है। यही आधार भारतीय संस्कृति का भी मूलाधार है। भारतीय संस्कृति में दर्शन का अपना महत्व है। दर्शन के बिना संस्कृति अधूरी एवं अपरिपक्व होती है। संस्कृति की पूर्णता दर्शन से होती है।

भारतीय दर्शन के विभिन्न अंग हैं— “न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त और मीमांसा, मिलकर षड्दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हें आस्तिक दर्शन भी कहा जाता है, इनके अलावा चार्वाक, जैन, बौद्ध नास्तिक दर्शन के नाम से जाने जाते हैं।”² दर्शन में अन्धविश्वास की प्रधानता नहीं मानी जाती। धर्म से संबंध होने पर भी यह उसके प्रथक् हैं

इसमें तो सिद्धान्त रूप से तत्वों का अनुभव करना आवश्यक है। ज्ञान, नीति और ज्ञान—मीमांसा को दार्शनिक चिंतन का विषय वस्तु बताया गया है।³ विचारकों ने इन तत्वों के आलोक में जीवन और जगत के मर्म को जानने, समझने और देखने का उपक्रम करते हैं।

¹ डॉ. देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ 63

² हिन्दू धर्म का वैज्ञानिक विवेचन, अखिल भारतीय साहित्य कला मंच, सुल्तानपुर, लेखक राज्य प्रताप सिंह, पृष्ठ 31

³ हिन्दू विश्वकोष, खण्ड— 6, पृष्ठ 5

वस्तुतः चिंतकों का यह उपक्रम— सांस्कृतिक चेतना का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। इसलिये दार्शनिक सत्य का दर्शन पाने के लिये तर्क पर विश्वास करता है। अतः संसार को दुःखमय मानकर इसकी निवृत्ति का साधन खोजना ही दर्शन का मुख्य लक्ष्य रहा है।

I kfgR; , oa Hkkj r ea f}Lrjh; ¼fons kh½ I L—fr; k;

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य पर विदेशी संस्कृतियों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है, अनेक विदेशी जातियों ने इस देश पर आक्रमण किये। यवन, शक, कुशाण, हूण, तुर्क, अफगान, मुगल और अंग्रेजों ने भारत में प्रवेश कर इसके अनेक भागों पर शासन किया तथा इस देश की संस्कृति एवं साहित्य को भी नष्ट-भ्रष्ट करने का काम किया। पर इन से यहाँ की मूल संस्कृति नष्ट नहीं हुयी। “जिस प्रकार अनेक छोटी-छोटी नदियाँ व नाले गंगा में मिलकर उसे अधिक समृद्ध करते जाते हैं। और स्वयं गंगा के ही अंग बन जाते हैं, वैसे ही विविध जातियों ने भारत में प्रवेश कर इस देश की संस्कृति को समृद्ध बनाने में सहायता की ओर उनकी अपनी संस्कृतियों के इस देश की प्राचीन संस्कृति पर अनेक प्रकार के प्रभाव पड़े हैं, जिसके कारण भारतीय संस्कृति, साहित्य, धर्म, कला, शिक्षा, रहन-सहन, खान-पान व विचारों पर गहरा प्रभाव देखने को मिलता है।”¹

भारतीय भाषा, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, प्रथा, परम्परा, लोकगीत, लोकगाथा, विवाह प्रणाली, जीवन संस्कार, कला संगीत तथा नृत्य आदि सभी क्षेत्रों में विदेशी संस्कृतियों का असर स्पष्ट दिखायी पड़ता है। जहाँ एक ओर हमारी शिक्षा प्रणाली भी विदेशी शिक्षा

¹ सत्यकेतु विद्यालंकार - भारतीय संस्कृति का विकास , प्रारम्भिक शब्दों में

पद्धति पर ही आधारित है, जिसके कारण छात्र-छात्राएँ अपनी मूल भाषा को भूलते जा रहे हैं।

भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन लाने में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। भारत में पश्चिमी मूल्यों व मान्यताओं का प्रसार अंग्रेजों के शासनकाल में तीव्र गति से हुआ। विदेशियों ने अपने लम्बे शासनकाल में भारतीय साहित्य एवं संस्कृति को तो प्रभावित किया ही, साथ ही यहाँ की शासन व्यवस्था को भी अपने ढंग से व्यवस्थित किया, इस प्रकार अनेकों परिवर्तन स्वतः उत्पन्न होते चले गये।

आज भारतीय समाज, संस्कृति एवं साहित्य का जो स्वरूप सामने आ रहा है, उसमें काफी सीमा तक पाश्चात्य संस्कृति का ही प्रभाव दिखलायी पड़ता है। हिन्दी साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, हिन्दी साहित्य में नाटकों एवं गद्य पद पर भी अंग्रेजी साहित्य का काफी प्रभाव पड़ा। निबन्ध साहित्य तथा आलोचना-साहित्य में भी पाश्चात्य तत्वों को अत्यधिक ग्रहण किया गया।

भारत एवं साहित्य पर विदेशी संस्कृतियों का असर स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ रहा है लोगों ने भारतीय परम्पराओं, रीति-रिवाजों एवं भारतीय जीवन-शैली के तरीकों को घटिया समझकर छोड़ दिया और पाश्चात्य संस्कृति, सभ्यता, साहित्य एवं उनकी जीवन शैली को श्रेष्ठ समझकर अपना रहे हैं। किसी भी देश की संस्कृति उस देश की आत्मा होती है और भारतीय संस्कृति में आत्मा को परमात्मा माना जाता है और परमात्मा का अस्तित्व प्रकृति और संस्कृति से कभी मिटाया नहीं जा सकता। भारतीय संस्कृति की यही विशेषता रही है कि वह विभिन्न प्रभावों को ग्रहण कर स्वयं में समाहित कर पुष्ट व विकसित होती गयी।

l k1—frd tkxj.k

भारत में सदैव संस्कृति का साम्राज्य रहा है, राजनैतिक साम्राज्यों की उथल-पुथल परकियों के अत्याचार तथा विभेदक प्रवृत्तियों के कारण कभी-कभी समाज में निराशा का भाव अवश्य उत्पन्न हुआ, परन्तु महात्माओं, चिंतकों एवं समाज सुधारकों, के अथक व अनवरत प्रयासों ने आशा, उत्साह के द्वारा सांस्कृतिक चेतना तथा सांस्कृतिक जागरण को सदा प्रज्वलित रखा।

आज भारतीय संस्कृति में जो विकृतियाँ आई हैं उन सबके पीछे विदेशी संस्कृतियों का ही प्रभाव है तथा भौतिकवाद भी इसका एक कारण है। वर्तमान युग में जो संस्कृति दिखायी दे रही है, आज हमें उसे सुधारने की आवश्यकता है और यह कार्य सांस्कृतिक जागरण से ही संभव है।

काल के प्रवाह से निष्फल हो चुकी आत्मघाती पुरातन परम्पराओं में स्वयं को जकड़े रखकर सुरक्षित महसूस करने वाले इस समाज के लिये विदेशी चैनलों द्वारा प्रसारित कार्यक्रमों में सांस्कृतिक आक्रमण निरूपित किया जा रहा है। पाश्चात्य सभ्यता और जीवन दर्शन को महिमा मण्डित करने वाले कार्यक्रमों द्वारा फैलाये जा रहे सामाजिक, सांस्कृतिक और मानसिक प्रदूषण के खतरे की लम्बे समय से चर्चा हो रही है।

भारतीय संस्कृति में व्याप्त कुरीतियों, अंधविश्वासों के प्रति भी समाज को जागृत करना होगा। यदि आज आधुनिक पीढ़ी को संस्कृति एवं सभ्यता के प्रति जागरूक नहीं किया गया तो भारतीय संस्कृति

बहुत ही जल्द पूरी तरह नष्ट-भृष्ट हो जायेगी। इसलिये वर्तमान समय में सांस्कृतिक जागरण की बहुत आवश्यकता है।

आज भारतीय संस्कृति पूर्णतः विदेशी संस्कृतियों से प्रभावित है, शिक्षा, साहित्य, दर्शन, धर्म, समाज, राजनीति, सभ्यता, संस्कार, संस्कृति आदि सत्य क्षेत्रों में जागरण की आवश्यकता है, जिससे मानव जीवन सुखी एवं समृद्ध हो सके तथा अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

orëku ifjið; eñHkkjrh; | 1—fr

भारतीय संस्कृति विश्व की सबसे पुरानी संस्कृति है, जिसके महत्वपूर्ण गुण, अच्छे शिष्टाचार, तहजीब, सभ्य सम्वाद, धार्मिक संस्कार, मान्यताएँ, रीति-रिवाज और परम्पराओं का अनुसरण हम हमेशा से करते आये हैं। तथा हमारे नैतिक मूल्य सत्य, प्रेम, करुणा, दया, अहिंसा, परोपकार आदि भारतीय संस्कृति के मूलाधार रहे हैं।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हमारी संस्कृति का स्वरूप कितना विकृत हो गया है। भारतीय संस्कृति में संस्कारों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, जन्म से लेकर मृत्यु तक संस्कार किये जाते हैं, लेकिन आज समय के परिवर्तन के कारण समाज एवं संस्कृति से संस्कारों का लोप होता जा रहा है, जबकि नई पीढ़ी को पता ही नहीं संस्कार होते क्या हैं।

आज अर्थवाद के इस युग में नैतिक मूल्यों का जीवन में बहुत ही कम प्रयोग देखने को मिल रहा है, प्रत्येक क्षेत्र में झूठ, बेईमानी, मुनाफाखोरी, भृष्टाचार एवं निजी स्वार्थों को ही सिद्ध किया जा रहा है। वहीं आज शिक्षा, स्वास्थ्य, धर्म, भृष्टाचार, चरित्रहीनता, कर्तव्यविमुखता आदि जैसे अवगुणों का ही अनुसरण कर रहे हैं।

वर्तमान में हमारा खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, त्यौहार, परम्पराएँ आदि सब कुछ बदलता जा रहा है। आज भारतीय व्यंजनो की जगह विदेशी व्यंजनों को ज्यादा पसन्द किया जा रहा है, दूध, दलिया, खिचड़ी, महेरी आदि की जगह बिस्किट्स, चॉकलेट्स, चाऊमिन, पिज्जा, बर्गर आदि ब्रेक फास्ट का चलन नई पीढ़ी में ज्यादा देखने को मिल रहा है। आज हमारी रहन-सहन का भी तरीका बहुत बदल गया है। जहाँ भारतीय नारियाँ साड़ी, सलवार सूट पहनती थीं, वहीं आज जीन्स, टॉप, स्कॉट आदि अभद्र और अश्लील दिखने वाले वस्त्रों का भी प्रयोग देखने को मिल रहा है।

भारतीय संस्कृति में त्यौहारों और उत्सवों का भी बड़ा महत्व है, जो त्यौहार, उत्सव, भारतीय संस्कृति में, प्रेम, भाईचारा, सद्भाव, सौहार्द, एकता, अखण्डता आदि का प्रतीक थे, उनकी जगह वर्तमान में द्वेष, घृणा, बैर एक-दूसरे को नीचा दिखाना, अपमानित करना, बुराई करना, जैसे हीन विचारों का प्रभाव भी वर्तमान भारतीय संस्कृति में दिखलायी पड़ रहा है।

जिस देश को अपनी संस्कृति पर नाज था वही उसकी महत्ता को नजर अंदाज कर भौतिकवादी पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति की अंधी नकल में लगा हुआ है, जबकि भौतिक संस्कृति के पुजारी, पाश्चात्य संस्कृति के अनुयायी उसका खोखलापन समझने के बाद भारतीयता की सादगी और आध्यात्म की ओर आकर्षित हो रहे हैं।।

भारतीय संस्कृति पर आधारित जीवन ही सफल एवं सुन्दर हो सकता है, क्योंकि जो जीवन जीने का ढंग भारतीय संस्कृति में देखने को मिलता है, वह अन्य संस्कृतियों में नहीं पाया जाता है।

; xhu | Øe.k

सभी युगों में कुछ न कुछ समस्याएँ रही हैं, हर युग की अपनी समस्याएँ होती हैं, जिस प्रकार शरीर में कुछ न कुछ रोग हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक युग में अनेक बुराईयाँ पैदा होती रही हैं, जिसके कारण मानव जीवन असंतुलित हो जाया करता है।

आज वर्तमान युग में जो गम्भीर समस्याएँ हैं— जैसे मानव जीवन में नैतिक मूल्यों का ह्यास, समाज में बढ़ते अपराध, लूट, चोरी, हत्या, बलात्कार, लड़कियों के साथ छेड़खानी, मानव अंगों की तस्करी तथा भ्रष्टाचार, महँगाई, मुनाफाखोरी, मिलावटखोरी आदि संक्रमणों का बढ़ता प्रकोप एवं भ्रूण हत्या, आत्महत्या, टूटते परिवार, आपसी मतभेद, जातिभेद, अस्पृश्यता, अश्लीलता एवं बढ़ती बेरोजगारी के साथ—साथ साम्प्रदायिक दंगे, आतंकवाद, माओवाद, नक्सलवाद आदि के कारण समाज में भयाभय की स्थिति बनी हुयी है।

आज इस भौतिकवादी युग में शिक्षा, साहित्य, संस्कृति, धर्म, राजनीति, दर्शन, समाज, व्यक्ति, परिवार एवं जीवन का प्रत्येक पहलू आज संक्रमित है। बढ़ती गरीबी, बेरोजगारी, आरक्षण की वजह से देश और समाज में त्राहि—त्राहि मची हुयी है। वहीं आज शिक्षा, स्वास्थ्य, जैसे क्षेत्रों का भी व्यवसायीकरण किया जा रहा है, कभी परोपकार एवं सेवा भाव का क्षेत्र रहे धर्म एवं राजनीति में भी निजी स्वार्थ, पदलिप्सा, वंशवाद, भाई—भतीजा वाद, भोगविलासिता जैसे संक्रमण ही दिखलायी पड़ रहे हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि इस भौतिकवादी युग में जीवन का प्रत्येक क्षेत्र संक्रमित दिखायी पड़ रहा है, समस्याओं का

अम्बार लगा हुआ है, इन युगीन संक्रमणों को समाप्त करने के लिये सामाजिक, सांस्कृतिक जागरण की बहुत ही आवश्यकता है।

ppkfr; k; vkj | ek/kku

वर्तमान समय में मानव के समक्ष चुनौतियों और समस्याओं का अम्बार लगा हुआ है, वैसे तो व्यक्ति चुनौतियों और समस्याओं का सामना हमेशा से करता आया है, परिवर्तन चक्र तीव्र गति से घूम रहा है। सामाजिक स्थिति बहुत तेजी से बदल रही है, ऐसे में मनुष्य एक विचित्र से झंझावातों में फंसा है। बाह्य रूप से चारों तरफ भौतिक एवं आर्थिक प्रगति दिखायी देती है, सुख-सुविधाओं के अनेकानेक साधनों का अम्बार लगता जा रहा है, दिन-प्रतिदिन नये-नये अविष्कार हो रहे हैं, पर आंतरिक दृष्टि से मनुष्य टूटता और बिखरता जा रहा है। उसका संसार के प्रति विश्वास, समाज के प्रति सद्भाव और जीवन के प्रति उल्लास धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। अब तो समाज में चारों तरफ आपसी सोहार्द, समरसता एवं सात्विकता के स्थान पर कुटिलता, दुष्टता और स्वार्थपरता ही दृष्टिगोचर होती है।

जो देश कभी विश्वगुरु हुआ करता था, उसी भारतवर्ष के राष्ट्रीय, सामाजिक, पारिवारिक एवं व्यक्तिगत जीवन में चतुर्दिक अराजकता और उच्छृंखलता छायी हुयी है। जीवन मूल्यों एवं आदर्शों के प्रति आस्था, निष्ठा की बात कोई सोचता ही नहीं। ईमानदारी, मेहनत और सत्यनिष्ठा के साथ-साथ निःस्वार्थ भाव से स्वेच्छा पूर्वक जनहित के कार्य करने वालों को लोग मूर्ख ही समझते हैं।

सामान्य नागरिक से लेकर सत्ता के शिखर तक अधिकांश व्यक्ति अनीति-अनाचार में आकण्ठ डूबे हैं। ऐसी विक्रत मानसिकता के

चलते मनुष्य वैज्ञानिक, प्रगति से प्राप्त सुख सुविधाओं के अनेकानेक साधनों का भी दुरुपयोग ही करता है। ऐसी स्थिति में क्या सामाजिक समरसता व सहयोग की भावना जीवित रह सकती है ? सुख, शान्ति व आनंद के दर्शन हो सकते हैं ? जहाँ चारों ओर धनबल और बाहुबल का नंगा नाच हो रहा हो उस समाज में क्या वास्तविक प्रगति कभी हो सकती है ? समय-समय पर सामाजिक स्थिति में बदलाव तो आते ही रहते हैं। वर्तमान समय में समाज और राष्ट्र की धुरी बुरी तरह से लड़खड़ा रही है और सम्पूर्ण व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन आवश्यक हो गया है।

वर्तमान समय में सुरसा की तरह मुँह फैलाए खड़ी उन तमाम चुनोटियों का सामना एवं समाधान करने के लिये सर्वप्रथम हमें अपने मन से निराशा एवं हताशा के भावों को जड़ से उखाड़ फैंकना होगा, अपनी क्षमताओं, शक्तियों, व प्रतिभा पर अटूट विश्वास जगाना होगा। साधन, संयम और स्वाधाय द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुये सदैव दूसरों की सेवा की भावना ही मन में रखनी होगी तथा परोपकार को जीवन का मूल उद्देश्य मानकर हमारे पास जो भी प्रतिभा और क्षमता है, जो भी धन सम्पत्ति है, सब हमने समाज के सहयोग से अर्जित की है। समाज व राष्ट्र के इस उपकार का बदला चुकाना हमारा कर्तव्य है सभी सामाजिक, सांस्कृतिक समस्याओं के मध्य पाये जाने वाले संबंधों का विश्लेषण एवं अनुशीलन कर हम इन समस्याओं के समाधान के लिये एक नई सोच प्रस्तुत कर सकते हैं।

1/2 | ekt & vfk

समाज उस व्यवस्था का नाम है, जहाँ बहुत सारे व्यक्ति एक-साथ हिल-मिल कर रहते हैं तथा एक-दूसरे का हित-अनिहित ध्यान में रखते हुये आपसी प्रेम, परोपकार और भाईचारे की भावना के

साथ जीवन यापन करते हैं। किसी भी समाज का आपस में मानवीय संबंध होना आवश्यक है। एक व्यक्ति समाज का निर्माण नहीं कर सकता, उसे अपने सम्पूर्ण विकास के लिये दूसरों पर भी निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि मनुष्य केवल सामाजिक प्राणी ही नहीं, वरन् एक विवेकशील प्राणी भी है। मानव की एक-दूसरे पर निर्भरता ही मानवीय संबंधों को रूपायित करती है, जिससे समाज की रचना होती है। डॉ. सम्पूर्णानन्द के मतानुसार—“सम अन्ति जनः अस्मिन् इतिः” अर्थात् जिसमें लोग मिलकर एक-साथ एक गति से, एक से चले वही समाज है। एक साथ या एक से चलने का अर्थ फौजी सिपाहियों की भाँति किसी एक दिशा में कदम मिलाकर चलना नहीं है। तात्पर्य यह है कि लोगों के जो समाज के अंग हो, परिस्थिति एक सी हो, उनके प्रयत्न, और उद्देश्य एक से हों।¹ इस प्रकार डॉ. सम्पूर्णानन्द जी ने समाज के सभी पक्षों का उल्लेख करते हुये समाज की सभी परिस्थितियों को एक समान स्वीकार कर समाज में समानता स्थापित की है।

डॉ. शशिभूषण सिंहल ने समाज को परिभाषित करते हुये लिखा है— “मानव के विकासक्रम में समाज की स्थापना हुयी है, मनुष्य सामाजिक प्राणी है, व्यक्ति ने अपनी रीति संबंधी एवं पैतृक मूल वृत्तियों के कारण अपना अकेलापन त्यागकर पारिवारिक जीवन अपनाया है। उसके उपरान्त उसकी सामाजिक भावना उत्तरोत्तर विकसित होती रही है। अतः समाज, शोद्देश्य व्यक्तियों का गतिशील गठन है। समाज अपने सदस्यों को बाह्य घातक तत्वों द्वारा नष्ट होने से बचाता है, रक्षा कर उनके व्यक्तित्व का विकास करता है और कुछ जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा कर उन्हें पाने के लिये प्रयत्नशील होता है।”²

¹ डॉ. सम्पूर्णानन्दन, समाजवाद, पृष्ठ 19

² डॉ. शशि भूषण सिंघल, हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ 13

मैकाइवर ने समाज के निर्माण के लिये सामाजिक संबंधों को आवश्यक माना है। व्यक्ति के यह संबंध रीति-रिवाजों पर आधारित होते हैं, जो उनको आपस में भावनात्मक रूप से जोड़ते हैं।¹

इस संबंध में ला पियरे का कथन है— “मनुष्य के समूहों को समाज नहीं कहा जा सकता है, अपितु समूह के अन्तर्गत व्यक्तियों के संबंधों की व्यवस्था का नाम समाज है।”² ला पियरे को ‘समाज’ में मनुष्य की अन्तःक्रियाएँ तथा आदर्श अधिक आकर्षित करते हैं। ला पियरे के अनुसार— “समाज मनुष्यों का एक समूह न होकर अन्तःक्रिया के आदर्शों के वे जटिल प्रतिमान हैं, जो मनुष्यों में और उनके बीच उदय होते हैं। समूह के जीवन के निष्पन्न भावात्मक विचार को समाज कहते हैं।”³

वृहद हिन्दी कोष में— समाज के शाब्दिक अर्थ को निम्न प्रकार दिया गया है— “मिलना, एकत्र होना, समूह, संघ, दल तथा समान कार्य करने वालों का समूह, विशेष, उद्देश्य पूर्ति के लिये संघटित संस्था।”⁴

उपर्युक्त परिभाषाएँ ‘समाज’ के मूल में सामाजिक संबंधों को स्वीकार करती हैं। यही संबंध समाज का निर्माण करता है समाज की आत्मा से मनुष्य का अमूर्त संबंध है। समाज एक प्रकार से भावना का आधार लेकर बनता है। विविधता समाज में समन्वय के रूप में परिलक्षित होती है।

¹ मैकाइवर एण्ड पेज, सोसायटी, पृष्ठ 5

² उद्धृत — डॉ. उर्मिला गम्भीर, प्रताप नारायण श्रीवास्तव के उपन्यासों का समाज शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ 37

³ उद्धृत — रविन्द्र कुमार सिंह — संत काव्य की सामाजिक प्रासंगिता, पृष्ठ 19

⁴ सम्पादक कलिका प्रसाद वृहद, हिन्दी कोष, पृष्ठ 137

कहा जा सकता है कि समाज मनुष्य के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि बिना समाज के व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है। समाज ही व्यक्ति को वो सब कुछ देता है, जिसकी आवश्यकता मनुष्य जीवन में होती है।

0; fä pruk

व्यक्ति समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है, जिसके द्वारा समाज का निर्माण होता है। व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, जिसके अभाव में समाज के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। व्यक्ति जहाँ अपने मानवीय संबंधों से समाज का निर्माण करता है, वहीं समाज उसे सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित करता है।

व्यक्ति सामाजिक प्राणी होने के साथ-साथ एक चेतनशील प्राणी भी है, और यही 'चेतना' उसे अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ बनाती है। मानव आत्म चेतन के चिद बिन्दु द्वारा निर्मित है और अपनी विकास यात्रा में समाज में रहते हुये उसमें चेतना का विस्तार होता है। परिणाम स्वरूप उसमें आत्म-भाव जागृत होता है।

भारतीय विचारक महर्षि अरविन्द ने व्यक्ति को जैविक-चेतना से जगत चेतना तक सर्वत्र प्रवहमान रूप में पोषित किया। व्यक्ति की सामाजिक चेतना इसी का अंश है। स्वतंत्रता, समानता तथा संख्य भाव को महर्षि ने व्यक्ति-आत्मा के शाश्वत लक्षण रूप में स्थापित किया। व्यक्ति की विश्व-व्यापक चेतना का विकास, अरविन्द का अभिधेय रहा है।¹ महात्मा गाँधी ने व्यक्ति के आत्म केन्द्रित रूप को अस्वीकार नहीं किया था, व्यक्ति के जिन गुणों की अपेक्षा है, वे सभी समाज-सापेक्ष

¹ अरविन्द, जीवन-दर्शन, पृष्ठ 64

हैं। व्यक्ति के सद्गुण-दुर्गुण समाज को प्रेरित और प्रभावित करते हैं। महात्मा गांधी ने सर्वाधिक विचार योग्य, व्यक्ति को स्वीकार किया है। सामाजिक नियंत्रक शक्तियों के हस्तक्षेप के विस्तार को, व्यक्ति-विकास के लिये भयावह मान कर, व्यक्ति को व्यवस्था से श्रेष्ठ रूप में स्थापित किया है।¹ व्यक्ति में जब चेतना का वह स्वरूप जागृत होता है जो सम्पूर्ण समाज की समष्टि चेतना को प्रतिबिम्बित करता है, तब व्यक्ति में चेतना प्रविष्ट होती है। जो व्यक्ति को गति और गंतव्य तथा सामाजिक सौष्ठव और समग्रता प्रदान करती है।

स्पष्टतः व्यक्ति चेतना का विकास समाज के परिवेश में होता है और समाज का विकास व्यक्ति चेतना के द्वारा, क्योंकि यह चेतना ही व्यक्ति को सभ्यता, संस्कृति, साहित्य आदि का ज्ञान कराके उसे श्रेष्ठ और विवेकशील प्राणी बनाती है।

i fjokj pruk

परिवार में यदि चेतना न हो तो वह परिवार, परिवार न होकर एक पशुओं का झुण्ड बन जाता है और पशुओं के झुण्ड को हम परिवार नहीं कह सकते। क्योंकि पशुओं में 'चेतना' का अभाव होता है। 'चेतना' के कारण ही परिवार में एक-दूसरे से प्रेम, सहानुभूति, आत्मीयता और स्वार्थ रहित सेवा-भाव। एक-दूसरे के लिये त्याग, समर्पण तथा उत्सर्ग की तत्परता होती है। जहाँ एक-दूसरे के सांसारिक सुख में सहायता के साथ आत्मोन्नति में यथासाध्य सहयोग करना ही परिवार चेतना के लक्षण कहे जा सकते हैं।

¹ सेलेक्शन फ्रॉम, गांधी, पृष्ठ 25 तथा 26

परिवार एक पवित्र तथा उपयोगी संस्था है, इसमें मानव का सर्वांगीण उन्नति का आधार, सहयोग, सहायता और पारस्परिकता का भाव रहता है। यह भाव ही वह 'चेतना' है, जिसके आधार पर मनुष्य आदि जंगली स्थिति से उन्नत करता-करता आज की सभ्य स्थिति में पहुँचा है, जाग्रति की भावना ही मनुष्य जाति की उन्नति का मूल कारण रही है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, और उसको समाज में स्थान दिलाने का सामर्थ्य परिवार में होता है। कुटुम्ब, कुल इसके पर्यायवाची शब्द हैं। 'परिवार' शब्द 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'व्र' धातु से अध् प्रत्यय जोड़कर निष्पन्न है। जिसका अर्थ है— 'गृहस्थी, परिवार, बन्धु, वंश, विवाह के फलस्वरूप होने वाले संबंध, बाल-बच्चे, सन्तान, नाम, आदि।'¹

डॉ. हरिदत्त वेदालंकार के मतानुसार— "परिवार मानव जाति के आत्म संरक्षण और जातीय जीवन के सांतत्य को बनाये रखने का प्रधान साधन है। मनुष्य मरणधर्मा है, किन्तु मानव जाति अमर है। व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, बचपन, यौवन और बुढ़ापे की अवस्था भोग कर समाप्त हो जाते हैं। मृत्यु और अमृतत्व दो विरोधी वस्तुएँ हैं, किन्तु परिवार द्वारा इन दोनों का समन्वय हुआ है, व्यक्ति भले ही मर जाये, पर परिवार और विवाह द्वारा मानव अमर रहता है।"²

परिवार मानव जीवन का एक मुख्य आधार है। सामाजिक चेतना के विकास में परिवार का अहम योगदान होता है, इसी कारण परिवार समाज की मुख्य संस्था के रूप में मान्य है। सृष्टि सातत्य, स्नेह,

¹ वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी शब्द कोष, 28, 287, 589

² डॉ. हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृष्ठ 47

संरक्षण, भौतिक निकटता, सुविधापूर्ण पोषण, पारस्परिकता परिवार के प्रमुख बिन्दु हैं। भारतीय संस्कृति में भौतिक आवश्यकता या काम संतुष्टि, परिवार रचना का आधार नहीं है। भारतीय जीवन में “संस्कृति-सभ्यता और सद्गुण-संगम की गंगोत्री के रूप में परिवार की महिमा है।”¹

स्पष्टतः परिवार चेतना से ही सामाजिक चेतना का विकास संभव है, मानव जीवन का परिवार के बिना कोई महत्व नहीं है, इसलिये परिवार समाज की महत्वपूर्ण इकाई है।

लेख प्रक

संसार चेतना का विशाल सागर है, चेतना की अनुभूति से आकुल व्यक्ति जब चेतना के मार्ग पर चलता है तब व्यक्ति-व्यक्ति की चेतना समष्टि चेतना का रूप धारण कर लेती है। व्यक्ति और समष्टि के बिन्दुओं को मिला देने पर ही जीवन यात्रा का मार्ग बनता है एक हमारी जीवन यात्रा का प्रारंभ स्थान है, तो दूसरा गंतव्य। व्यक्तिगत, सामाजिक, जीवन में आत्मसात होकर ही पूर्ण बनता है। जैसे जल बिन्दु नदी और सागर के अथाह जल में मिलकर पूर्णता प्राप्त करता है।

व्यक्ति और परिवार तो नष्ट भी होते हैं और नये भी पैदा होते हैं, किन्तु समष्टि का जीवन अनंत है वह नित्य प्रवाहित होता रहता है। समष्टि के अभाव में व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है। एकांकी व्यक्ति तो सुख का भी भोग नहीं कर सकता। ये सुख और आनंद व्यक्ति को परिवार, समाज से ही प्राप्त हो सकता है।

¹ डॉ. सोमनाथ शुक्ल, बीसवीं सती की सामाजिक चेतना, पृष्ठ 100-1998, आशीष प्रकाशन, जूही, कानपुर

व्यक्ति में जब चेतना का वह स्वरूप जाग्रत होता है, जो सम्पूर्ण समुदाय की समग्र चेतना को प्रतिबिंबित करता है, तब व्यक्ति पूर्णता के क्षेत्र में प्रविष्ट होता है। व्यक्ति परिपक्वता के पथ पर ऐसे जीवन यापन का विस्तार करता है, जिसमें व्यक्ति के सर्वांग की तुष्टि होती।¹

स्पष्टतः जीवन के सभी क्षेत्रों में हमारा ध्येय समष्टिगत है, सामाजिक है, हमारा कार्य व्यवहार सामाजिक जीवन को परिपुष्ट और विकसित करने के लिये हो। समाज जितना उत्कृष्ट होगा, उतना ही व्यक्ति, परिवार भी उन्नति और विकास के अवसर प्राप्त कर सकेगा।

¹ बीसवीं शती की सामाजिक चेतना, डॉ. सोमनाथ शुक्ल, पृष्ठ 91, आशीष प्रकाशन, कानपुर, 1998